



तबले का इतिहास

जयेन्द्र सिंह

शोधार्थी, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

Paper Received On: 21 June 2025

Peer Reviewed On: 25 July 2025

Published On: 01 August 2025

उत्तर भारत के अभिजात संगीत का सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय ताल वाद्य तबला है। इसकी परम्परा पिछले लगभग तीन सौ वर्षों से चली आ रही है। इन शताब्दियों में कितने ही उच्च कोटि के कलाकार, साधक एवं रचनाकार पैदा हुए हैं। परन्तु इस लोकप्रिय ताल वाद्य के विषय में सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि अभी तक इसके जन्म के इतिहास के सम्बन्ध में एक मत नहीं हो पाया। इसका प्रमुख कारण यह है कि बीसवीं सदी के मध्यकाल तक के पूर्व की ऐसी कोई प्रामाणिक पुस्तक नहीं मिलती, जिससे उस समय की वादन-विधि, कलाकारों का समयबद्ध इतिहास एवं परम्परा की ठोस जानकारी मिल सके। अतः इसके आविष्कार एवं जन्म-काल के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद हैं इस दशा में दन्त कथाओं तथा प्राचीन मंदिरों की मूर्तियों एवं भित्ति-चित्रों का आधार लेना पड़ता है।

संशोधन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तबला भारतीय ताल वाद्य हैं यह सदियों से हमारे लोक संगीत में प्रयुक्त होता रहा हैं जनश्रुति के अनुसार तबले के आविष्कार के साथ हजरत अमीर खुसरोका नाम जोड़ा जाता है। किन्तु वे तबले के आविष्कारक थे, यह धारणा निर्मूल है, क्योंकि अमीर खुसरो के जन्म के सैकड़ों वर्ष पहले तबला भारत में था। तबला न तो ईरान से आया है और न ही अरबस्तान से। यह न तो पखावज को काटकर बनाया गया है और न ही 'काटा तब भी बोला इसलिए तबला' बना है।

आज हम जिसे तबला बायों के नाम से संबोधित करते हैं, उसे हूबहू रूप का चित्र या इतिहास सत्रहवीं सदी से पूर्व का हमें प्राप्त नहीं होता। परन्तु इससे इस निश्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए कि तबला जैसा कोई ताल वाद्य इसके पूर्व अस्तित्व में था ही नहीं। अति प्राचीन काल से ही अनेक वाद्य हमारे सामान्य जनजीवन के सांस्कृतिक एवं कलात्मक पक्षों से सम्बन्धित रहे हैं देश के विभिन्न भागों में पुरातन शिल्पों में कुछ ऐसे ताल वाद्यों की मूर्ति एवं भित्ति-चित्र मिलते हैं जो आधुनिक तबला बायों

की जोड़ी से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। ये मूर्तियाँ एवं शिल्प निश्चय ही उस समय के जन-जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रत्येक ताल वाद्य भारतीय संगीत में मुख्यतः साथ-संगति के लिए ही प्रयुक्त होता है। तबले के विकास के इतिहास के पीछे भी कुछ विशिष्ट गायन शैलियों की लोकप्रियता ही कारण बनी है। चौदहवीं-पन्द्रहवीं भाती तक उत्तर भारतीय संगीत में खयाल तथा ठुमरी गायन शैलियों का उद्भव हो चुका था। परन्तु उस समय तक ध्रुपद धमार गायन शैली और उनके साथी वाद्य पखावज का ही अधिक प्रचार था। कहते हैं, आव यकता आविश्कार की जननी होती है। खयाल एवं ठुमरी जैसी श्रृंगारिक एवं मधुर गायन शैलियों के लिए पखावज वाद्य उपयुक्त न था। अतः किसी अन्य वाद्य की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और यही आव यकता तबले के जन्म और विकास की जननी है।

15वीं भाती के पश्चात खयाल के प्रवेश और प्रयोग से तबले की प्रगति भी प्रारम्भ हो गई थी। किन्तु आगे के दो सौ वर्षों तक ध्रुपद गायकी एवं पखावज वाद्य के प्राधान्य के कारण तबले को तत्कालीन विद्वान संगीतज्ञों ने पूर्णतः स्वीकारा नहीं था। ऐसा प्रत्येक नवीन प्रयोग के लिए होना स्वाभाविक भी है। अतः 15वीं भाती से 17वीं शती के बीच के समय में तबले का स्वरूप और उसके विकास की जानकारी हमें प्राप्त नहीं होती।

सन् 1719 ई० में बादशाह मोहम्मद शाह रंगीले दिल्ली की मददी पर सिंहासिनासीन हुए। उनका भासन काल सन् 1719 से 1748 तक का रहा। उनके दरबार में उच्च कोटि के कवि एवं संगीतकार विराजमान थे। रंगीले का समय संगीत कला एवं साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं क्रांतिकारी माना जाता है, क्योंकि ध्रुपद धमार गायकी के स्थान पर खयाल, ठुमरी, दादरा, कव्वाली जैसी गायन भौलियाँ तथा वीणा के स्थान पर सितार जैसे नवीन तंतुवाद्य का प्रचार एवं विकास इसी काल में हुआ है।

रंगीले के दरबारी कलाकार उस्ताद नेमत खाँ 'सदारंग' अपने युग के सिद्ध गीतकार एवं श्रेष्ठ गायक थे। उनके भतीजे उस्ताद फिरोज खाँ 'अदारंग' भी अच्छे कलाकार थे। यद्यपि खयाल गायकों का पूर्ण रूप हजरत अमीर खुसरो, ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर तथा जौनपुर के सुलतान हुसेन भार्की के युग से ही प्रचार में आने लगा था, तथापि 'सदारंग' ने कव्वालों की परम्परा की इस खयाल गायकी को एक नवीन भौली तथा नया रूप दिया, जिससे इसकी विशयवस्तु में भी भारतीय श्रृंगार आ गया। उन्होंने अपने विरोधियों को पराजित तथा बादशाह मोहम्मद भाह रंगीले को संतुष्ट करने के हेतु सहस्रों खयालों की रचना की। उनके भतीजे अदारंग ने भी अनेक खयालों की रचना करके इस गायकी का खूब प्रचार किया।

विद्वानों के अनुसार उन दिनों की खयाल गायकी में आज की भास्त्रीयता और नियमबद्धता का प्रमाण कम पाया जाता था। खयाल गायकी का प्रचलन मुख्यतः नायिकाओं में होने के कारण उन दिनों खयाल गायकी तथा उसके नायक-नायिकाओं को इतना सम्मान नहीं दिया जाता था, जितना कि ध्रुपद गायन शैली को। इन गायक गायिकाओं की संगति बादशाह के सामने खड़े होकर करने का प्रचलन था, जो मृदंग के लिए असम्भव एवं असम्माननीय था। अतः उन दिनों के मृदंग वादन खयाल की संगति करना अथवा अपमान समझते थे। खयाल की तरह ही ठुमरी, दादरा, टप्पा, गजल, कव्वाली, कजरी, होरी आदि अनेक नवीन एवं श्रृंगारिक गायन भौलियाँ धीरे-धीरे प्रचार में आने लगी। तदुपरांत तन्तु वाद्यों के क्षेत्र में भी परिवर्तन का प्रारम्भ हो चुका था। वीणा के स्थान पर सितार की झंकार रंगीले दरबार में सुनाई देने लगी थी। सहतार की साथ संगति के लिए भी पखावज की गम्भीर ध्वनि उपयुक्त न थी। अतएव इन सभी आवश्यकताओं एवं समस्याओं की पूर्ति के हेतु अभिजात संगीत में तबले का प्रवेश हुआ।